

**THE TIMES OF INDIA****Date: 30-09-16**

Embrace change

BCCI must follow Lodha committee suggestions and free itself of conflicts of interest



BCCI has repeatedly tried to wriggle out of the administrative reform programme overseen by the Supreme Court. Consequently, it has incurred the wrath of the apex court and come perilously close to being superseded. Reforms necessarily require overhauling BCCI's existing structure, a closed club not accountable in any meaningful way to the game's fans. The Lodha committee, which was appointed by the apex court to prepare a reform roadmap and monitor its rollout, has suggested measures which will make BCCI a more transparent and accountable organisation. Such a reform will benefit Indian cricket.

In a status report, Lodha committee asked for BCCI's leadership to be superseded as it has not complied with timelines to implement the reform programme. The apex court's displeasure at BCCI's conduct has resulted in an existential threat. BCCI president Anurag Thakur and his colleagues have only themselves to blame for the current situation. Supreme Court was even-handed in its approach to Lodha committee recommendations and rejected some impractical ones such as the attempt to micromanage television coverage of cricket. But BCCI's continuing recalcitrance is on account of its powerful members' desire to cling to power.

It is still not too late to manage a transition unaccompanied by chaos. A BCCI special general meeting scheduled this week can still meet some milestone set by the Lodha committee. This will convince both the apex court and fans that BCCI's brass is willing to be a part of the transition. Barring veteran administrators who have crossed the retirement threshold, the reform programme does not preclude anyone from holding office. But there can be no compromise on creating an administrative structure which prevents conflict of interest. A modern organisation will be well placed to take cricket forward. BCCI should embrace change.

THE ECONOMIC TIMES**Date: 30-09-16**

How to clean up banking decisions

The government is reportedly cracking down on chiefs of state-run banks and financial institutions for acts of wrongdoing. As a majority owner, it has the right to do. Those found guilty of malfeasance deserve exemplary punishment.

However, senior executives should not have to work with a Damocles' sword of suspicion and threat of a CBI probe hanging over their heads. Commercial decisions entail both loss and gain, and every loss-making decision is not suspect. Often, the CBI launches a preliminary probe for every absurd conjecture brought to its attention, with scant understanding of the working of finance.

Insulating banking decisions from those who do not know banking is a must. The right incentive structure is crucial to prevent corruption. Overhaul the remuneration structure at state-owned banks to link large slices to profitability in the medium and the long term. Salaries of executives who take decisions — that expose banks to risk while offering chances to make profits — should be linked to how well their decisions evolve over time. Variable pay linked to performance over the medium term should form part of their remuneration.



A larger slice must be in the form of stock options. Here, banks can take a page from state-owned Canadian pension funds that pay a decent basic salary, an attractive yearly bonus and a liberal long-term performance bonus that accounts for the largest slice of the payout. However, with liberal incentives, the case to claw back compensation is compelling, when deficiency in their tenure is detected later. Transparency in the decision-making process to sanction a loan is a must. The discussions should be recorded to hold executives to account. Functional autonomy must go hand in hand with accountability



दैनिक भास्कर

Date: 30-09-16

अब अगला कदम बलूचिस्तान की आज़ादी हो

कुछ माह पूर्व ही इस लेखक ने संभावना जताई थी कि पश्चिम एशिया में नए इजरायल का जन्म हो सकता है। उस लेख की स्याही सूखी भी नहीं कि यह दायित्व भारत के कंधों पर आ पड़ा है। भारतीय सेना ने नियंत्रणरेखा पर स-जिकल आपरेशन करके सात आतंकी ठिकाने तबाह कर दिए हैं। अब परिस्थितियां कैसा मोड़ लेंगी इस पर अभी कुछ कहना जल्दबाजी होगी। किंतु यह स्पष्ट है कि पाकिस्तान की मस्ती को समाप्त करने के लिए भारत को ही पहल करनी पड़ रही है। पश्चमी भारत और उस के निकट बसे क्षेत्रों में पाकिस्तान जैसी आतंकी गतिविधियां चला रहा है, उससे उसी के अपने क्षेत्रों में हाहाकार मचा हुआ है। बलूचिस्तान और सिंध भी उसकी चपेट में हैं। ऐसे में भारत के पास इसके अलावा कोई विकल्प नहीं है कि अपने यहां शांति कायम करने के लए पहले सिंधबलूचिस्तान में शांति के- प्रयास करे।

पाकिस्तान का सब से बड़ा भौगोलिक क्षेत्र बलूचिस्तान है, इसलिए जब तक वहां शांति स्थापित नहीं होती तब तक भारत भी सुखचैन से नहीं रह सकता। बलूचिस्तान पाकिस्तान के अत्याचारों से बुरी तरह त्रस्त है। वह चाहता है कि भारत उसे - आजाद कराने में सहायता करे, लेकिन भारत हस्तक्षेप करने में हिचकिचाता रहा है। किंतु ऐसा लगता है कि पाकिस्तान ने इन दिनों भारत से टकराने का मन बना लिया है, इसलिए भारत के लिए स्वर्णिम अवसर है कि जब वह बलूच जनता की सहायता कर उसे मुक्ति दिला दे। भारत और बलूच जनता मिलकर पाकिस्तान को पाठ पढ़ाएंगे तो इस क्षेत्र में स्थायी

शांति कायम हो सकेगी। निकट भविष्य में पाकिस्तान में बांग्लादेश दोहराया गया तो दुनिया को आश्चर्य नहीं होगा। ऐसा हुआ तो मध्य एशिया की शांति के लिए एक और इजरायल बनाना पड़ेगा।

बलूचिस्तान के अस्तित्व को शुरू से ही आसपास के देशों से मान्यता मिलती रही है। 18वीं शताब्दी में बलूचिस्तान के शासक नसीर खान बलूच को नूरी नसीर कहा जाता था। उसकी सार्वभौम सरकार पर 1839 में ब्रिटिश सरकार ने हमला किया, लेकिन कलात तक अंग्रेज सेना पहुंचने के बाद बलूच जनता हार गई। उल्लेखनीय है कि तब तक सेना और उसके सरदार सभी हिंदू थे। महत्वपूर्ण नगर मकरान और लासबेला उन के हाथों से निकल गए। तब यह हिंदू बहुल प्रदेश था। जब देश में स्वतंत्रता की हवा चली तो 11 अगस्त 1947 को यह भाग ब्रिटिश सत्ता से स्वतंत्र हो गया। उस समय वहां की जनता और तत्कालीन शासन ने उसे स्वतंत्र देश की मान्यता दी। भारत की आजादी के साथ ही सितंबर 1947 में जिस प्रकार पाकिस्तान ने कश्मीर पर आक्रमण किया, उसी प्रकार 27 मार्च 1948 को बलूचिस्तान पर पाकिस्तान ने हमला करके उसकी स्वतंत्रता पर सवालिया निशान लगा दिया। 1948 में प्रिंस अब्दुल करीम खान के छोटे भाई ने प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की बागडोर हाथों में ले ली। 1996 से वहां पाकिस्तानियों की घुसपैठ बढ़ी। उस समय नवाब रोज खान ने बलूच लिबरेशन आर्मी तैयार कर ली। उन्होंने स्वतंत्र होने का बड़ा प्रयास किया, लेकिन पाकिस्तान का शिकंजा कसता चला गया। 30 हजार बलूच नागरिकों की हत्या और 24 हजार बलूच नागरिकों का गायब हो जाना आज भी रहस्य बना हुआ है।

माओ के चीन ने 1962 में भारत पर आक्रमण कर उस के लद्दाख एवं अक्साई चीन वाले क्षेत्र पर कब्जा कर लिया। इतना ही नहीं बाल्टिस्तान और गिलगित जैसे क्षेत्रों को भी कब्जे में ले लिया। पाक ने अपना माल समझकर सारा क्षेत्र चीन के हवाले कर दिया। नतीजतन चीन ने अक्साई चीन से गिलगित वाया बाल्टिस्तान होकर अपनी सेना अफगानिस्तान तक पहुंचाने का षड्यंत्र रचा। अब चीन का प्रयास है कि वह भारत के समुद्री किनारे तक येन केन प्रकारेण पहुंच जाए। चीनपाकिस्तान आर्थिक कॉरिडोर इसी का नतीजा है। इतना ही नहीं चीन ने हिमालय में रेल लाइनें स्थापित कर ली हैं। कुलमिलाकर बलूचिस्तान के सहारे चीन ने भारत के पश्चिमोत्तर भागों तक अपनी पहुंच बना ली है। - हालांकि, पाकिस्तान जानता है कि चीन का प्रसार उस के लिए अत्यंत जोखिम भरा है। यदि आज भारत चीन के निशाने पर है तो कल पाकिस्तान की बारी है, लेकिन उसकी एक ही नीति है 'मैं तो मरूं सो मरूं लेकिन तुझे विधवा करूं।' अब सवाल यह है कि बलूचिस्तान का मामला इन दिनों ही क्यों सर उठा रहा है? जवाब यह है कि भारत का ईरान को भरोसे में लेकर चाबहार बंदरगाह विकसित करना। इससे पाकिस्तान और चीन दोनों ही बेचैन हैं। भारत यदि इस बंदरगाह को अपना आधार बना लेता है तो दोनों उसके निशाने पर आ जाते हैं। ईरान के समर्थन से अमेरिका भी चौंक गया है, क्योंकि यही वह क्षेत्र है जहां रूस की सीमाएं मिलती हैं। रूस भारत को समर्थन देकर अपनी नेवी से पाक और चीन के हौसले पस्त कर सकता है। रूसभारत मैत्री इन शक्तियों के लिए बड़ी चुनौती होगी-, इसलिए इन दिनों पाकिस्तान रूस के निकट जाने के प्रयास में लगा है। इस बीच पाकिस्तान ने जिस प्रकार बांग्लादेशियों को निर्वासित कर उन्हें दरदर भटकने पर - मजबूर किया था, वही रणनीति अपनाकर अब वह बलूचों को उनके प्रदेशों से निकाल देना चाहता है। वह इस क्षेत्र में पंजाब के कट्टर सुन्नियों को लाकर बसाने के प्रयास में जुटा है।

प्रधानमंत्री मोदी ने स्वतंत्रता दिवस के भाषण में उन सारे क्षेत्रों के नामों का उल्लेख करके देश और दुनिया को याद दिला दिया कि पाकिस्तान ने किस प्रकार अपनी हड़प नीति से क्षेत्र को अस्थिर बना रखा है। बांग्लादेश बन जाने के बाद भी पाक नेताओं की लार टपकना बंद नहीं हुई है, इसलिए भारत को एक बार फिर उसका दिमाग ठिकाने पर लाने की कार्रवाई करना अनिवार्य हो गया। पाकिस्तान का यह दिवा स्वप्न है कि वह आसपास के देश हड़पकर दक्षिणपूर्वी एशिया -

की ताकत बन जाए, लेकिन अंतरराष्ट्रीय कूटनीतिज्ञों को आशंका है कि कहीं पाकिस्तान इस्लामाबाद की सीमाओं तक मर्यादित न रह जाए। ऐसा हुआ तो इजरायल की तरह एशिया में एक और इजरायल बन जाएगा, जो इस्लाम के नाम पर राजनीति करने वालों को हमेशा उनकी औकात दिखाने में कोई कसर नहीं छोड़ेगा। अब वह समय निकट आ गया है जब पाकिस्तान टूटेगा नहीं बल्कि दुनिया के मानचित्र से ही विदा हो जाएगा।

मुजफ्फर हुसैन (ये लेखक के अपने विचार हैं)

पाकिस्तान व मध्यपूर्व-

मामलों के टिप्पणीकार



दैनिक जागरण

Date: 30-09-16

कॉलेजियम पर न्यायमूर्ति का सवाल

उच्च न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति को लेकर जो टकराव की स्थिति उच्चतम न्यायालय तथा केंद्र सरकार के बीच उत्पन्न हो गई है, वैसा टकराव हाल के दशकों में देखने को नहीं मिला है। प्रधान न्यायाधीश टी एस ठाकुर न्यायाधीशों की नियुक्ति नहीं किए जाने को लेकर सरकार पर प्रहार करने का कोई मौका हाथ से जाने नहीं देते। दूसरी ओर केंद्र सरकार भी उच्च न्यायपालिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार पूरी तरह से न्यायपालिका के हाथों छोड़ना नहीं चाहती। फोर्थ जजेज मामले (सुप्रीम कोर्ट एडवोकेट्स-ऑन-रेकार्ड बनाम संघ) में गत वर्ष अक्टूबर में सर्वोच्च अदालत ने संविधान के 99वें संशोधन को निरस्त कर दिया, जिसके द्वारा राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग का गठन किया गया था। परंतु अदालत ने इतना स्वीकार किया कॉलेजियम की कार्यपद्धति में कई कमियां हैं और सरकार से प्रक्रिया की विवरणिका बनाने को कहा। बात इसी पर अटक गई, क्योंकि सरकार राष्ट्रीय सुरक्षा के आधार पर किसी भी नियुक्ति को वीटो करने का अधिकार अपने पास रखना चाहती है, जो शीर्ष न्यायालय को मंजूर नहीं है। उच्चतम न्यायालय ने व्याख्या के जरिये कॉलेजियम व्यवस्था थोपी है, जिसका संविधान में कोई जिक्र नहीं है। फर्स्ट जजेज मामले (एसपी गुप्ता बनाम संघ) में 1981 में अदालत ने कहा कि चूंकि कार्यपालिका जनता के प्रति जवाबदेह है और न्यायपालिका की ऐसी कोई जवाबदेही नहीं है, इसलिए नियुक्ति का अधिकार कार्यपालिका के पास होना चाहिए। परंतु 1993 में सेकंड जजेज मामले में इस निर्णय को पलटते हुए उच्चतम न्यायालय की एक संविधान पीठ ने कहा कि संविधान का उद्देश्य योग्य एवं ईमानदार न्यायाधीशों की नियुक्ति करना है। अदालत के अनुसार, न्यायाधीश ही किसी वकील की योग्यता एवं निष्ठा की परख कर सकता है। विधायिका के पास वकीलों की योग्यता परखने का कोई जरिया नहीं है और अनुच्छेद 121 एवं 211 के तहत न्यायाधीशों के चरित्र पर संसद या विधानमंडल में कोई बहस नहीं हो सकती है। इसी तर्क पर न्यायालय ने न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार कार्यपालिका से छीनकर अपने हाथों में ले लिया।

कॉलेजियम की कार्यप्रणाली पर अक्सर सवाल उठते रहे हैं। परंतु इस बार आवाज अंदर से आई है। सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश एवं कॉलेजियम के सदस्य न्यायमूर्ति जे चेलामेश्वर ने आरोप लगाया है कि कॉलेजियम के कामकाज में पारदर्शिता नहीं है और वह भविष्य में कॉलेजियम की बैठकों में भाग नहीं लेंगे। सवाल यह नहीं है कि नियुक्ति कौन

करता है या उसकी प्रक्रिया क्या है। सवाल यह है कि क्या नियुक्ति के बाद उसे पूर्ण सुरक्षा मिलती है। यदि हां, तो नियुक्ति का अधिकार किसके पास है, यह अहम नहीं है। इसलिए न्यायमूर्ति चेलामेश्वर ने फोर्थ जजेज मामले में संविधान पीठ के अन्य चार न्यायाधीशों के साथ असहमति जताते हुए राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग के गठन को सही माना। उन्होंने मेरी पुस्तक जस्टिस, जूडोक्रेसी एंड डेमोक्रेसी इन इंडिया से एक अंश उद्धृत किया, जिसमें मैंने लिखा है कि राजनीति में सक्रिय कई अधिवक्ताओं को जज बनाया गया। केएस हेगड़े तथा टकेचंद तो राज्यसभा सांसद थे, जब उन्हें उच्च न्यायालय का न्यायाधीश बनाया गया। परंतु जस्टिस हेगड़े इतने निष्पक्ष रहे कि उन्हें उन्हीं की कांग्रेस सरकार ने भारत का प्रधान न्यायाधीश नहीं बनने दिया। न्यायमूर्ति वी आर कृष्ण अय्यर पहले केरल सरकार में मंत्री थे, और उन्हें सुप्रीम कोर्ट का जज बनाए जाने का काफी विरोध था, पर वह एक आदर्श जज साबित हुए।

सुधांशु रंजन

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 30-09-16

वैश्वीकरण के शोर में राष्ट्रीय पहचान का जोर

हम एक नए दौर से गुजर रहे हैं जहां कारोबारी नेता यह समझने लगे हैं कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया में राष्ट्रीय पहचानों और संस्कृतियों का भी पूरा ध्यान रखना होगा। विस्तार से जानकारी दे रहे हैं क्लॉड समदजा

इन दिनों यह खूब सुनने में आ रहा है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया अपने अंतिम चरण से गुजर रही है। इस विचार को आगे बढ़ाने वाले इसके प्रमाण दुनिया के अलग-अलग हिस्सों से पेश करते हैं: यूरोप और अमेरिका में लोकप्रिय दलों का उदय, यूनाइटेड किंगडम का ब्रेक्सिट के पक्ष में मतदान, वैश्विक कारोबार के आकार में मंदी अथवा प्रशांत पार साझेदारी समझौते (टीपीपी) अथवा अटलांटिक पार कारोबार और निवेश साझेदारी (टीटीआईपी) को आगे बढ़ाने में दिक्कत। चीन में पिछले दिनों आयोजित ग्लोबल एंटरप्राइज फोरम में कुछ चीनी वक्ताओं की इस कुढ़न के बारे में सुनना दिलचस्प था कि वैश्वीकरण के जोखिमों में एक ठहराव आ गया है और कैसे यह बात उनके देश पर नकारात्मक असर डालेगी।

हकीकत में वैश्वीकरण के संदर्भ में हम आज जो कुछ देख रहे हैं, उसमें ढेर सारी गलत समझ शामिल है। यह सूचना प्रौद्योगिकी और संचार क्रांति जैसे कारकों की मदद से लगातार आगे बढ़ रहा है, दुनिया भर की अर्थव्यवस्थाओं और प्रमुख मुद्राओं के बीच आपसी संपर्क तेज हो रहा है लेकिन इस बीच हम एक बड़े सुधार की प्रक्रिया से भी गुजर रहे हैं। यह दंभ से भरे वैश्वीकरण का अंत हो सकता है और उन बड़े कारोबारी और अन्य प्रतिष्ठानों के लिए कष्ट का समय हो सकता है जो बीते 15 सालों के दौरान यह मान बैठे थे कि वैश्वीकरण उनके लिए एक खाली चेक के समान है। यूरोप के अनेक हिस्सों में यूरोपीय संघ के खिलाफ भावना नजर आ रही है। प्रश्न यह है कि क्या यूरोपीय एकीकरण का यह अर्थ है कि ब्रसेल्स में बैठे नौकरशाह 28 सदस्य देशों के जीवन की हर बात को नियंत्रित करें? यकीनन नहीं। यूरोप के लोग यूरोपीय संघ का खात्मा नहीं चाहते बल्कि उनकी मंशा यह है कि वह इन देशों की आवाज बने। यह दुखद है कि एक के बाद एक संकट झेलने के बाद यूरोप के देशों ने अब यह महसूस करना शुरू किया है कि एकीकरण की प्रक्रिया में कुछ

गलत था। ऐसे एकीकरण को नहीं माना जा सकता है जो लोगों को विकास और रोजगार न दिला सके बल्कि जो बड़े कारोबारियों और बुर्जुआ लोगों द्वारा अपने फायदे के लिए प्रयोग में लाया जाए।

टीपीपी या टीटीआईपी के विरोध की बात करें तो कुछ आकलन यहां भी उल्लेखनीय हैं कारोबारी संधियों का हमेशा : निहित स्वार्थ वाले धड़ों ने विरोध किया है। ये वे लोग हैं जो नई प्रतिस्पर्धा से डरते हैं। उपरोक्त दोनों संधियों के साथ यही बात है। बहरहाल, टीटीआईपी के साथ एक खास बात यह है कि यूरोप इसके सख्त खिलाफ है। टीटीआईपी का संबंध कारोबारी बाधाएं दूर करने से नहीं बल्कि अटलांटिक पार नियामकीय जगह बनाने से है। यूरोप के लोग ऐसा नहीं चाहते। उनको लगता है कि एकल नियामकीय खाका उन्हें परेशानी में डाल देगा। यूरोप में निजता को लेकर आग्रह बहुत ज्यादा है और वे उसके साथ कोई समझौता नहीं चाहते। विवाद की एक अन्य वजह है टीटीआईपी में निवेश संरक्षण का तरीका। प्रस्तावित निवेशक की प्रक्रिया (आईएसडीएस) राज्य विवाद निस्तारण-ा में विभिन्न देशों की अदालतों की कानूनी प्रक्रिया को दरकिनार कर दिया जाएगा। हालांकि यह व्यवस्था अभी भी कई निवेश संधियों में मौजूद है लेकिन अमेरिका टीटीआईपी में इसका प्रवर्तन जिस प्रकार करेगा वह विभिन्न देशों के कानूनी दायरे से परे होगा। यानी टीटीआईपी के खिलाफ होने की मूल वजह सांस्कृतिक और पहचान संबंधी टकराव है।

अमेरिका में इस संधि के खिलाफ बढ़ते विरोध की बात करें तो इसका संबंध वैश्वीकरण के विरोध से कम और इस भावना से अधिक है कि ऐसी कारोबारी संधियां व्यापक तौर पर बड़े कारोबारी घरानों को लाभ पहुंचाने या भूनेतिक राज-उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की जाती हैं। जनता को इनके बारे में ठीक से समझाया नहीं जाता। अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा ने इस समझौते को एशिया नीति के प्रमुख हिस्से के रूप में पेश किया है। उनका कहना है कि इससे अमेरिका की राष्ट्रीय सुरक्षा मजबूत होगी और चीन का दबदबा नियंत्रित किया जा सकेगा। यह सुनने में अच्छा लगता है। लेकिन रोजगार की सुरक्षा और सतत जीवन स्तर से जुड़ा रहे लोगों का इससे क्या लेना देना? इस दावे में कोई दम नहीं लगता कि यह संधि अधिक वेतन वाले रोजगार सृजित करेगी। इसलिए कि अमेरिका 12 टीपीपी देशों में से छह के साथ ऐसे समझौते कर चुका है और उनका उदाहरण इस दावे की पुष्टि नहीं करता। गौरतलब है कि एक वक्त टीपीपी की घनघोर समर्थक रही हिलेरी क्लिंटन का कहना है कि वह राष्ट्रपति बनने के बाद इसे कूड़ेदान में डाल देंगी क्योंकि यह अमेरिकी रोजगारों को कम करेगा।

वैश्विक कारोबार के धीमा होने की बात करें तो कुछ विश्लेषक इसे वैश्वीकरण की प्रक्रिया का धीमापन मानते हैं। इसकी अधिक स्पष्टता व्याख्या यह हो सकती है कि पहले के दौर में देखी गई दो अंकों की वृद्धि ढांचागत कारकों से स्थायी नहीं हो सकी। धीमेपन की एक वजह चीन की अर्थव्यवस्था में आई मंदी है। इसने उसके कुल कारोबार पर असर डाला। दूसरी वजह है कि चीन की आंतरिक आपूर्ति शृंखलाओं का विकास जिन्होंने अन्य एशियाई देशों से होने वाले आयात को प्रभावित किया। तीसरी वजह यह है कि आज बहुराष्ट्रीय कंपनियां अपनी वैश्विक आपूर्ति शृंखला को सुसंगत बना रही हैं ताकि जोखिम और लागत कम कर सकें तथा पर्यावरण के अनुकूल रह सकें। ऐसे में वैश्विक कारोबार में सालाना बढ़ोतरी के पुराने स्तर पर पहुंचने की कोई संभावना नहीं है जब वैश्विक कारोबारी वृद्धि ही वैश्विक आर्थिक वृद्धि की वाहक थी। लेकिन इसे इस बात का प्रमाण कतई नहीं माना जा सकता है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया उलटी दिशा में है।

आज हम एक नए दौर के साक्षी बन रहे हैं जहां कारोबारी नेता और वैश्विक बुर्जुआ कष्टों के साथ ही सही लेकिन यह सीख रहे हैं कि वैश्वीकरण का प्रबंधन कुछ इस अंदाज में करना होगा कि विभिन्न देशों और संस्कृतियों की अलहदा पहचान भी बरकरार रहे। राष्ट्रीय संवेदनाओं की कीमत पर हमेशा कारोबारी सुगमता की राह पर आगे नहीं बढ़ा जा सकता है। सांस्कृतिक द्वंद्व हमेशा ही मौजूद रहे हैं और अगर केवल कारोबारी दलीलों को इकलौता वाहक माना लिया

गया तो हालात विस्फोटक हो सकते हैं। वैश्वीकरण में कमी नहीं आई है बल्कि इजाफा हुआ है। अब वैश्विक ताकतों के लिए वक्त है कि वे परिस्थितियों को समझें और अपनी नीतियों और रवैये को समायोजित करें।



Date: 29-09-16

SAARC minus one

India's search for alternatives to this regional forum must quicken.

Prime Minister Narendra Modi's decision to skip the South Asian summit in Islamabad next month is, in essence, about the deteriorating relationship with Pakistan. It also underlines the growing irrelevance of the South Asian Association of Regional Cooperation for India's regionalism. Irrespective of India's future relations with Pakistan, the Modi government's search for alternatives to SAARC will now acquire a new momentum.

For too long, India had conflated its regionalism with SAARC that was established three decades ago at the initiative of Bangladesh. While Delhi and Islamabad were both wary of the move in the mid-1980s, it was the inward economic orientation of the Subcontinent that limited possibilities for regional cooperation. As the Subcontinent launched economic reforms in the 1990s, regional integration appeared a natural consequence waiting to happen. As the South Asian states opened up to the world, it seemed sensible to connect with each other. But that was not how it turned out. India, on its part, inched towards accepting regionalism as an economic and political necessity. The SAARC, in turn, began to emphasise trade liberalisation, regional connectivity and trans-border economic projects. South Asia sought to evolve, much in the manner that the Association of South East Asian Nations had stitched itself together two decades earlier.

As SAARC developed new proposals and agreements in favour of preferential trade, free trade, road and rail connectivity and cross-border energy projects, it became clear that Pakistan was the camel that slowed down the pace of the South Asian caravan. More accurately, it was the Pakistan Army headquartered in Rawalpindi that exercised the veto. It was not that the Pakistan army was against the idea of regional cooperation. At a moment when SAARC was being formed in the mid-1980s, Pakistan set up the Economic Cooperation Organisation (ECO) with Iran and Turkey. After the collapse of the Soviet Union, the Central Asian states joined the ECO. More recently, Rawalpindi has become the champion and guardian of the trans-border China-Pakistan economic corridor.

Rawalpindi's problem was with the idea of economic integration with India. Neither the initiatives of SAARC, nor the Indian appeals, were capable of changing this. China and the United States, two of Pakistan's best friends, often tried nudging Rawalpindi to take a more positive view of economic cooperation with India. Civilian leaders at the national as well as the provincial level in Pakistan have long sought greater cooperation across the borders. But resistance of Pakistan's 'deep state' was insurmountable. Two most recent examples have been the talks on trade liberalisation and cross-border trade in energy during the last years of the UPA government. Islamabad pulled back just when the agreements were ready for signature. Pakistan also walked away from agreements on road connectivity after they were presented to the heads of government at the last SAARC summit in Kathmandu in November 2014.

In the past, Delhi simply shrugged its shoulders. Although it was clear that the SAARC caravan was going nowhere with Pakistan, it seemed there was little that India could do. PM Modi, however, took a different track. At the Kathmandu summit, he called for a two-speed SAARC. Rather than let one country take the entire

region hostage, Modi suggested, those who are ready for integration should move ahead. As a result, Bangladesh, Bhutan, India and Nepal got together soon after the Kathmandu summit to implement the motor vehicle agreement.

The BBIN framework was seen by many as heralding the era of 'SAARC Minus One' and hostile to Pakistan. The BBIN, however, was very much part of the SAARC framework. The SAARC charter allows two or more countries of the forum to embark on what is called 'sub-regional cooperation'. It was a policy instrument that was long available to policymakers in Delhi but remained unutilised. Delhi could also complement its sub-regional initiative with trans-regional outreach. If the Look East Policy aimed to integrate India with Asia, Delhi also helped create a regional forum called the BIMSTEC (Bay of Bengal Initiative for Multi-Sectoral Technical and Economic Cooperation). Although it dates back to 1997, the forum that brings five South Asian countries (Bangladesh, Bhutan, India, Nepal and Sri Lanka) together with two south east Asian countries (Burma and Thailand) has remained dormant.

The Modi government is now eager to re-energise the BIMSTEC forum. As part of that commitment, it has invited the BIMSTEC leaders to join the BRICS leaders at the Goa summit next week. Modi's meetings with the BIMSTEC leaders present a major opportunity to demonstrate that the meltdown of SAARC does not mean India is giving up the ambitions of its neighbourhood first strategy. One thing that the PM, who never misses an opportunity to coin a new acronym, might want to do is to give the BIMSTEC a more attractive name. The Bay of Bengal Community? BOBCOM, anyone? The turn to the east, however, does not resolve India's Pakistan problem in promoting economic cooperation with Afghanistan. Rawalpindi is dead set against letting Indian goods move overland to Afghanistan, despite fervent appeals from Kabul and an occasional entreaty from Washington. With no physical access to Afghanistan, Delhi needs to find creative ways to deepen bilateral economic engagement with Kabul bilaterally and through trilateral cooperation with other partners like Tehran.

Pakistan is free to choose its partners. It has consciously embraced China as the strategic economic partner; Rawalpindi believes that restoring historic economic connectivity with India is a threat to Pakistan. India can't compel Pakistan to join the project of South Asian integration. Instead of bemoaning that fact, Delhi must devote itself to bilateral, sub-regional and trans-regional cooperation with our neighbours, all of whom except Pakistan want India to do more. SAARC may be headed to the mortuary. But India can easily catch a new wind in its regional sails.

C. Raja Mohan

The writer is a director, Carnegie India, Delhi and consulting editor on foreign affairs for 'The Indian Express'

Date: 29-09-16

Caste in a new mould

Law and justice may still prove elusive, but powerful new voices are transforming Dalit politics.

When four members of the Dalit Bhotmange family in Khairlanji were murdered by a group of people belonging to an OBC caste from the same village, the state and its institutions refused to accept that it was a caste crime. A fast-track court sentenced eight of the 50 accused to death for the murders and the high court reduced it to life — while rejecting the charges made under the SC/ST Prevention of Atrocities Act. State institutions and the law continue to fail Dalits. But, 10 years later, powerful new voices are emerging from

within the community, forcefully articulating a politics of rights and justice. It reflects an ongoing churn in society, where new social, economic and political forces are shaping a modernity that challenges the old caste order even as they are set in it.

The Khairlanji violence also had a lot to do with Dalit assertion. The Ambedkarite politics of the 20th century had radicalised and empowered Dalits, threatening the very foundations of the caste-centric feudal hierarchy of rural Maharashtra. Political mobilisations, then and now, in the state reflect the deep unease among the caste elites with Dalit empowerment, reflected in community members gaining education, employment outside the “traditional” caste occupations, and acquiring material assets. Maharashtra’s political narrative is not exceptional. At the heart of the anti-Dalit violence reported from across India, be it in Tamil Nadu or Gujarat, seem to be non-Dalit anxieties about losing social and economic dominance as Dalits increasingly access modern education and assert their rights as citizens. The life and death of Rohith Vemula mirrored the Dalit upsurge and the extreme reactions to it. Vemula’s layered articulation of identity and emancipatory politics unnerved the establishment, which sought to first isolate, and then, penalise him. He chose death to assert his self, and his suicide roiled campuses across the country. Similarly, the attack by “gau rakshaks” on Dalits in Una has triggered a political response that has resonated across the country. Vemula, even after his death, and Jignesh Mewani in Gujarat, represent a new language of assertion of the marginalised and disprivileged that transcends the exclusive character of Dalit identity politics. The emergence of the Bahujan Samaj Party in the 1980s as a political movement and an electoral force could be seen as the big breakthrough in Dalit politics since Ambedkar. The post-Vemula mobilisations indicate a new exciting phase. The political establishment has no option but to engage with these large transformations.

Date: 29-09-16

The Sunday Syndrome

Shouldn't the weekly off day be a matter of choice, instead of being dictated by law?

This is an old chestnut, but I want to use the peg to make a different point. How did Sunday become a holiday in India? The best answer lies in the DoPT response, in 2012 to an RTI filed in Jammu by Raman Sharma, asking the same question. It said, “There is no information regarding declaration of Sunday as holiday.” However, in 1985, DoPT issued an order, which said: “The Government of India is pleased to introduce five-day week in the civil administration offices of the Government of India with effect from June 3, 1985. Such government offices would now work for five days a week from Monday to Friday, with all Saturdays as closed.” By implication, Sunday would be a holiday.



The complete answer, as with many of our labour laws, lies in the labour movement and factory legislation in Britain – replicated in India. In June 1949, Raja Kulkarni wrote in the Economic Weekly: “The first Factory Act in 1881 was enacted... at the instance of the Lancashire mill-owners who brought pressure upon the government to fight... competition from the Indian Mills who could produce at cheap rates because of cheap labour, lack of stay (sic) regulation of working hours or restriction on the employment of women and children, etc. The Lancashire mill-owners were interested in getting the hours of work and employment of women and children regulated in order to enhance the cost of production of the Indian mills, their competitors.” The 1881 Act was replaced by a second Factory Act in 1891. The act drew upon the Bombay Factory Commission of 1884 and Factory Labour Commission of 1890. The Sunday holiday story has to do with these two commissions. You could say that the explanation of “public holiday” in the Negotiable Instruments Act refers to Sunday. But remember, the Negotiable Instruments Act also dates to 1881.

The manager of the Empress Mill testified in 1884 before the Factory Commission: "...Mills should close every Sunday and give the hands a rest, but when a native holiday occurs, I would work on the Sunday." The manager of the Sewlal Motilal Spinning Mill testified: "I would not give holidays on Sundays always... if a native holiday came during the week I would work the following Sunday. The operatives would object to have their holidays fixed for any special day... they would prefer their own holidays to Sundays."

The Commission concluded: "The operatives in all the provinces visited by us desire that it shall be one fixed day in the week, that all the factories shall be closed on the same day, and that the law shall fix Sunday as the day of rest. We observe that in the Bill before the Legislative Council, no mention is made of Sunday, and we suppose that a reference to a Sunday holiday was omitted in consideration of the fact that that intentions of the British Government might be mistaken in appointing the Christian Sabbath as the day of rest. After a careful enquiry... we have come to the conclusion that they ask that Sunday should be the day fixed for the holiday, because it is the most convenient day for meeting their friends who are employed in other mercantile establishments and government offices, where a Sunday holiday, has always been the rule."

There are shops and establishments outside the purview of factory-related labour legislation. These have to be closed on one day of the week, but that doesn't have to be Sunday. In Delhi, for instance, "different days may be specified for different classes of shops or commercial establishments or for different areas". I don't see why this flexibility shouldn't be extended across the board, getting away from the Sunday syndrome. There is a difference between an establishment remaining closed on a fixed day of the week and each individual worker getting a day off once a week. It is perfectly possible for an establishment to remain open all seven days, as long as each worker gets a day off. This is a matter of choice. Why must law mandate this? Unfortunately, that is the equation in the shops and establishments legislation. This is also the de facto provision in the Weekly Holidays Act of 1942. We should get away from factory mindsets.

Bibek Debroy

The writer is member, Niti Aayog. Views expressed are personal



Date: 29-09-16

सार्क और उसकी भावना

भारत ने मंगलवार को जिस तरह से आतंकवाद के मुद्दे पर पाकिस्तान को अलग-थलग करने की रणनीति दिखाई, तभी लगने लगा था कि नतीजे ऐसे ही आएंगे। भारत ने न सिर्फ पाकिस्तान की जमीन पर होने वाले सार्क देशों के सम्मेलन से अपने को अलग रखने का फैसला लिया, वरन उसी वक्त उरी हमले में उसकी संलिप्तता के पुख्ता सबूत भी उसे सौंपे। पाकिस्तान की नीति और नीयत पर यह दोहरी चोट थी। भारत के इस फैसले के तत्काल बाद बांग्लादेश, भूटान और अफगानिस्तान ने भी सार्क सम्मेलन से अपने को अलग करके आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई में न सिर्फ सहभागिता दिखाई, बल्कि पाकिस्तान को 'टेरर स्टेट' घोषित किए जाने की तमाम देशों की मंशा के साथ भी मजबूती से खड़े दिखाई दिए। सार्क शिखर सम्मेलन का रद्द होना भारत के उस कड़े फैसले के साथ ही तय हो गया था, जब यह कहा गया कि न तो प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी वहां जाएंगे, न ही भारत का कोई अधिकारी। सार्क की नियमावली कहती है कि यदि आठ सदस्यीय सार्क से एक भी सदस्य गैरहाजिर होता है, तो यह रद्द हो जाएगा। उरी के बाद भारत की यह पहली बड़ी कूटनीतिक विजय है, जब उसने पाकिस्तान को अलग-थलग करने की कोशिश सफल रही। तीन पड़ोसियों ने जिस तरह

इसे मुखर समर्थन दिया, वह आश्वस्त करता है कि पड़ोस की धरती से पनप रही आतंकवाद की बेल को काटने की भविष्य की यह लड़ाई उतनी भी कठिन नहीं है। भारत की इस कूटनीतिक चाल पर पाकिस्तान की प्रतिक्रिया खिसियानी बिल्ली जैसी है। उसने भारत के इस फैसले को दुर्भाग्यपूर्ण भर कहा। इस लड़ाई में भारत के साथ बांग्लादेश, भूटान और अफगानिस्तान के खड़े होने को सिर्फ शुरुआत माना जाना चाहिए और पाकिस्तान के लिए एक चेतावनी भी। सार्क सम्मेलन पर खतरे के बादल तो सिर्फ एक प्रतीक है, दरअसल यह पाकिस्तान की मुश्किलों की शुरुआत है।

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने जिस तरह सिंधु जल समझौते पर बड़ी बैठक की, वह भी इस दिशा में एक बड़ा कूटनीतिक कदम माना जा रहा है। माना जा रहा है कि भारत पाकिस्तान को 'मोस्ट फेवर्ड नेशन' यानी तरजीही देश का दर्जा खत्म करने की पहल के साथ वह सब कर देना चाहता है, जो पाकिस्तान को कमजोर करने में सहायक हो। दरअसल, भारत पाकिस्तान के खिलाफ हर वह असैनिक उपाय आजमा रहा है, जिसके संदेश कड़े हों। प्रधानमंत्री के वक्तव्य 'खून और पानी दोनों एक साथ नहीं बह सकते' में भी यही स्पष्ट संकेत और संदेश था। ये दो बातें पाकिस्तान को विचलित करने, उसकी चिंता बढ़ाने वाली हैं। भारत हमेशा सौहार्द का पक्षधर रहा है, पाकिस्तान की तमाम कारगुजारियों के बावजूद पिछले महीने गृह मंत्री राजनाथ सिंह का वहां जाना इसी रूप में देखा जाना चाहिए। सार्क सम्मेलन में शामिल न होने का ताजा फैसला मजबूरी में लिया गया फैसला है। इसे पाकिस्तान की हरकतों से उपजे दबाव की तरह से देखा जाना चाहिए। इसके पहले तक सार्क की हर तैयारी में हमारी अब तक की भागीदारी बताती है कि भारत की मंशा हमेशा की तरह इसे सार्थक करने की ही थी। ढाई साल पहले प्रधानमंत्री पद की शपथ लेते समय ही नरेंद्र मोदी ने सार्क देशों के लिए एक विशेष उपग्रह लांच करने की घोषणा की थी, जो बताता है कि उस समय उनके इरादे क्या थे। और अब जो फैसले हो रहे हैं, वे बताते हैं कि दबाव किस तरह के हैं। इसके साथ ही हमारे कई पड़ोसियों ने भी अपने तई कदम उठाकर पाकिस्तान को आगाह कर दिया है। अब इसके आगे पाकिस्तान को सोचना है।

जनसत्ता

Date: 29-09-16

खटाई में सार्क

सार्क का गठन दक्षिण एशिया में व्यापारिक, वाणिज्यिक और सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देने और परस्पर शांति बनाए रखने के मकसद से किया गया था।

पाकिस्तान को अलग-थलग करने की अगली रणनीति के तहत भारत ने इस्लामाबाद में होने वाले सार्क सम्मेलन में शिरकत करने से इनकार कर दिया है। सार्क के वर्तमान अध्यक्ष देश नेपाल को लिखे पत्र में भारत ने कहा है कि जिस तरह सीमा पार से आतंकवादी गतिविधियों को बढ़ावा दिया जा रहा है, उसमें प्रस्तावित सार्क शिखर सम्मेलन में हिस्सा लेना उसके लिए संभव नहीं है। भारत के इस फैसले के बाद अफगानिस्तान, बांग्लादेश और भूटान



ने भी सार्क शिखर सम्मेलन के बहिष्कार का निर्णय किया है। माना जा रहा है कि आठ सदस्यीय इस संगठन के कुछ और देश बहिष्कार का निर्णय कर सकते हैं।

सार्क घोषणा-पत्र के मुताबिक किसी भी देश के अनुपस्थित रहने पर इसका शिखर सम्मेलन आयोजित नहीं किया जा सकता। पाकिस्तान ने भारत के इस फैसले को दुर्भाग्यपूर्ण करार दिया है। लंबे समय से पाकिस्तान पर आतंकवादी संगठनों के खिलाफ कार्रवाई करने का दबाव डाला जाता रहा है, मगर वह इसे गंभीरता से नहीं लेता। सार्क घोषणा-पत्र में इसके सभी सदस्य देशों ने इस वचनबद्धता पर हस्ताक्षर किए हैं कि वे किसी भी रूप में आतंकवादी गतिविधियों के लिए अपनी जमीन का इस्तेमाल नहीं होने देंगे। मगर पाकिस्तान ने उसे कब का भुला दिया है। इसके अनेक प्रमाण मौजूद हैं कि खासकर भारत के खिलाफ वह आतंकवाद को हथियार के रूप में इस्तेमाल करता आ रहा है। अनेक मौकों पर उसे आतंकवादी हमलों से जुड़े दस्तावेज सौंपे गए, लेकिन उन पर गंभीरता दिखाने के बजाय उन्हें सिरे से खारिज करता रहा है। फिर उसके यहां पनाह पाए आतंकी संगठनों की हरकतों का शिकार केवल भारत नहीं है, बांग्लादेश और अफगानिस्तान में भी पाक समर्थित आतंकवादी संगठनों की तरफ से किए गए हमलों के पुख्ता प्रमाण हैं।

सार्क का गठन दक्षिण एशिया में व्यापारिक, वाणिज्यिक और सांस्कृतिक सहयोग को बढ़ावा देने और परस्पर शांति बनाए रखने के मकसद से किया गया था। मगर पाकिस्तान शुरू से इसके घोषणा-पत्र में कही बातों का उल्लंघन करता रहा है। भारत के ताजा फैसले का उस पर शायद ही कोई असर पड़े, पर इससे एक बार फिर दुनिया के सामने उसका पक्ष कमजोर हुआ है। भारत ने व्यापार के लिहाज से उसे विशेष देश का दर्जा दे रखा है, अब वह उसे वापस लेने पर भी विचार कर रहा है। पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति छिपी नहीं है। बेरोजगारी, अशिक्षा और गरीबी के चलते वहां विकास के रास्ते अवरुद्ध हैं। ऐसे में अगर सार्क देश उससे व्यापारिक संबंध तोड़ लेते हैं तो उसकी मुश्किलें और बढ़ेंगी।

संयुक्त राष्ट्र महासंघ के सम्मेलन में पाकिस्तानी प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने जिस तरह आतंकी बुरहान वानी का पक्ष लिया उससे दुनिया के अनेक देशों से उन्हें निंदा झेलनी पड़ी। फिर अमेरिका लगातार उस पर दबाव बना रहा है कि वह अपने यहां पनाह पाए आतंकी संगठनों पर नकेल कसे। मगर पाकिस्तान अपनी सेना, आतंकी संगठनों और कट्टरपंथी ताकतों के चंगुल में इस कदर फंस चुका है कि आतंक का दामन छोड़ना उसके लिए मुश्किल होता गया है। अब स्थिति यह है कि वह धर्म और कश्मीर के नाम पर पाकिस्तानी अवाम को बरगलाए रख कर मूल समस्याओं से उसका ध्यान हटाए रखने का प्रयास करता है। फिलहाल विदेशी इमदाद से वह अपनी जरूरतें पूरी करने की कोशिश करता आ रहा है, पर जब उसके व्यापार और रोजगार के स्रोत सूखते जाएंगे, उसे अपने यहां के लोगों का आक्रोश झेलना कठिन होगा।
